स्कूली ज्ञान का सामाजिक पक्ष

❑ ऋतु बाला

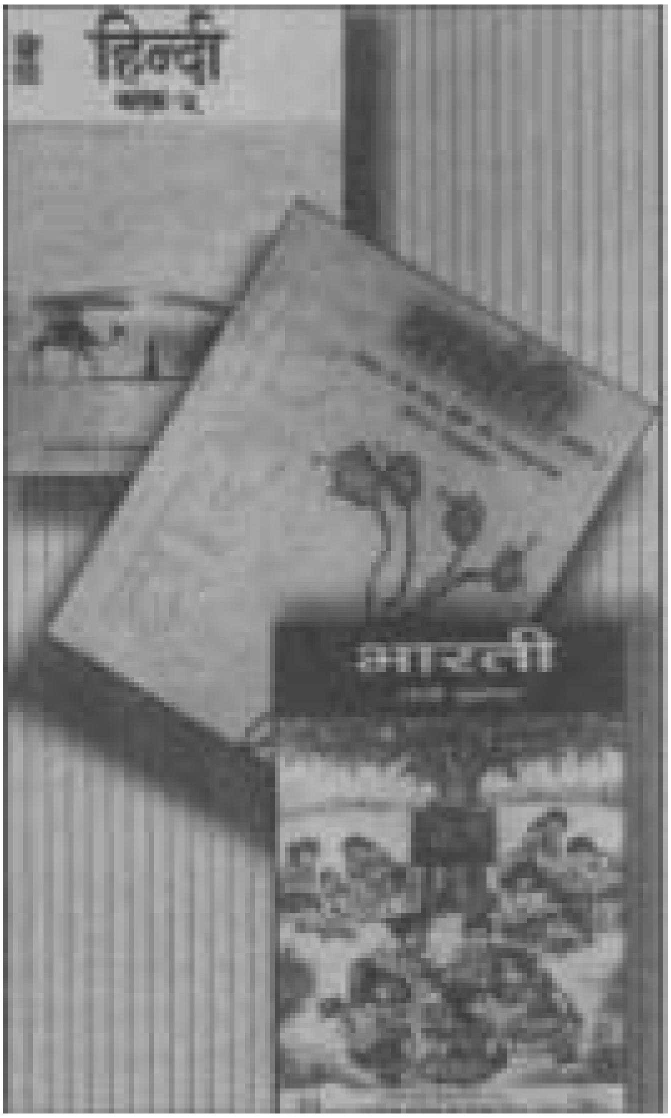
ज्ञान के मानकों को अपने पक्ष में मोड़ने की राजनीति भाारतीय शिक्षा जगत में ऐतिहासिक तौर पर चली आ रही समस्या है । स्कूली पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रम तथा पाठ्यपुस्तकों के विगत वर्षों में किये गये फेरबदल के पीछे भी कोई शैक्षिक सरोकार नहीं रहे बल्कि सामाजिक विषमता एवं सामाजिक न्याय को शिक्षा के संबोध्य क्षेत्र से बाहर करने का प्रमुख एजेन्डा काम कर रहा था । एन.सी.ई.आर.टी. एवं राजस्थान पाठ्यपुस्तक मंडल द्वारा बनायी गयी हिन्दी की पाठ्यपुस्तकों का यह विश्लेषण बताता है कि ज्ञान की राजनीति एक विशिष्ट मानकीकृत जीवन शैली को सामने रखती है जो हाशिये पर रह रहे लोगों और वंचितों को और भी ज्यादा वंचित करती है । प्रस्तुत विश्लेषण 'संस्कृति' और कथित 'विकास' के सवाल को केन्द्र में रखकर किया गया है ।

एक लम्बे समय से छायी हुई अकादमिक जड़ता के चलते पाठ्यपुस्तकें ऐसी स्थिति में पहुंच चुकी हैं जहां से 'स्कूली ज्ञान' और फिर उसके मार्फत एक मानकीकृत ज्ञान के ढांचे का विकास होता है । ज्ञान के मानकों को अपने पक्ष में मोड़ने की राजनीति 'शिक्षा जगत' में ऐतिहासिक तौर से चली आ रही समस्या है। स्कूली पाठ्यचर्या, पाठ्यक्रम तथा पाठ्यपुस्तकों में पिछले दो-तीन सालों से किये जा रहे उलट-फेरों ने एक बार फिर से यह जतला दिया है कि शिक्षा में चलाई जा रही राजनीति के पीछे शैक्षिक सरोकार नहीं बल्कि सामाजिक विषमता एवं सामाजिक न्याय को शिक्षा के संबोध्य क्षेत्र से बाहर करने का प्रमुख एजेण्डा काम कर रहा है । पिछले दिनों इस संदर्भ में हिन्दी की नई बनी पाठ्यपुस्तकें भी इसका अपवाद नहीं है। एनसीईआरटी एवं राजस्थान पाठ्यपुस्तक मण्डल द्वारा बनायी गई पाठ्यपुस्तकों का विश्लेषण यह बताता है कि ज्ञान की यह राजनीति एक विशिष्ट मानकीकृत जीवन शैली को सामने रखती है जो हाशिये पर रह रहे लोगों एवं वंचितों को और भी ज्यादा वंचित करती है । प्रस्तुत विश्लेषण 'संस्कृति' और 'विकास' के सवाल को केन्द्र में रखकर किया गया है ।

हिन्दी की पाठ्यपुस्तकें कबीर, नानक, दादूदयाल, रविदास (एन.सी.ई.आर.टी. कक्षा 9, 11) जैसे क्रान्तिकारी सन्तों पर बात करते हुए इनके सामाजिक जुझारूपन को या तो नजरअंदाज कर देती हैं या फिर उनको इस मिमियाते अंदाज में पेश करती हैं कि उनका कोई हस्तक्षेप ही न रह जाये । इन सन्तों की क्रान्तिकारिता की तपन एवं ऊर्जा को महसूस कराने के प्रयत्नों की बात तो छोड़ ही दीजिए, पाठ्यपुस्तकें इतनी सूचना भी नहीं देतीं कि जातिगत विषमता पर इन्होंने कैसे और कितना तेज प्रहार किया। कुल मिलाजुला कर पुस्तकें महज यह सूचना मात्र देती हैं कि उनकी कविता में गहरी सामाजिक चेतना थी, उन्हें जाति-पाति एवं ऊँच-नीच का भेद सहन नहीं था । किताबें इन्हें किसी ऐतिहासिक सन्दर्भ में नहीं रखती यानी यह नहीं बतलातीं की उस समय का दौर कैसा था, सामाजिक स्थिति क्या थी ? उस समय समाज में निचली जाति के लोगों, कामगारों तथा महिलाओं की सामाजिक-सांस्कृतिक, धार्मिक पहचान एवं हैसियत क्या थी। उनके साथ समाज के ऊपर के तबके क्या बर्ताव करते थे ? ज्ञान एवं आध्यात्म के क्षेत्र में उनके क्या अधिकार थे ? उस दौर में ऐसे क्रान्तिकारी सन्तों का आना इन तमाम सन्दर्भों में क्या मायने और हस्तक्षेप रखता है ? संक्षेप में कहें तो पाठ्यपुस्तकें इन क्रान्तिकारी सन्तों के संदर्भों को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से काटकर सामाजिक संघर्षों में इनके ओजस्वी योगदानों का दम ही निकाल देती हैं ।

कबीर, रैदास जैसे महानायकों के प्रति पाठ्यपुस्तकों का रवैया इतिहास दफनाऊ है । यानी पाठ्यपुस्तक इन महानायकों के बारे में चर्चा इस प्रकार करती है कि मानों ये इतिहास के एक कालखण्ड में पैदा होकर अपना व्यक्तित्व-कृतित्व बिखेर कर खत्म हो गए । वह इस बात की कहीं भी गंध नहीं देती कि समाज के दलित-वंचित तबकों की याददाश्त में, लोकगीतों में, मन्दिरों में तथा काम की जगहों पर कैलेण्डरों में ये नायक आज भी उन सामाजिक-सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक अस्मिता से गहरे तौर पर गुँथे हुए हैं। ऐसे ऐतिहासिक पात्रों को एक इतिहास की परिघटना बनाकर उन्हें चुकाए जाने की वर्तमान पहलकदमी कहीं से भी

जायज नहीं ठहराई जा सकती । आध्यात्मिक-सांस्कृतिक प्यास के सन्दर्भ में जहां ब्राह्मणवादी महाकाव्य, आज भी समाज के बहुसंख्यक दलित-वंचितों एवं निरक्षर तबकों की पहुंच से बाहर हैं वहाँ कबीर, रैदास जैसे नायकों की सीधी-सपाट कवितावली-दोहे ही यहां आधार का काम करते हैं । ऐसे में पाठ्यपुस्तक को चाहिए था कि वे इन पात्रों के साथ वैसा ही व्यवहार करतीं जिस रूप में हाशिए के लोगों के बीच ये पात्र बसते हैं। आखिरकार साहित्य के रूप में पढ़ाई जाने वाली इन पाठ्यपुस्तकों की जिम्मेवारी इन पात्रों को इतिहास के एक कालखण्ड में कैद कर देने से खत्म नहीं हो जाती है ।



सम्भवत: इन पाठ्यपुस्तकों का यह इरादा भी नहीं है कि वे विद्यार्थियों में इनके संबंध में कोई समाज-वैज्ञानिक समझ पैदा करें। इसलिए पुस्तकें बतौर सूचना भी बलपूर्वक यह नहीं बतलातीं कि कबीर ने जाति प्रथा की, खासतौर से अस्पृश्यता की तीव्र आलोचना की और मनुष्य की बुनियादी एकता पर जोर दिया । वे जाति, नस्ल, परिवार एवं सम्पत्ति के आधार पर मनुष्य मात्र के बीच में किए जाने वाले असमान बर्तावों के सख्त खिलाफ थे। उनका झुकाव निश्चित तौर पर समाज के वंचित तबकों की ओर था । किताब इस मोटी-सी जानकारी को भी स्थान नहीं देती कि नानक ने अस्पृश्यता एवं ऊँच-नीच के भेद के विरोध स्वरूप ही 'सार्वजनिक भोजनालय' (लंगर) पर जोर दिया था। लंगर में सभी जाति के लोगों के साथ-साथ बैठकर भोजन करने की रीति आज भी बदस्तूर जारी है । अभी के हालात में महिलाओं की स्थिति को देखते हुए हर वक्त मूल्यों का अलाप लगाने वाली शिक्षा व्यवस्था की पाठ्यपुस्तकों से यह आकांक्षा की जाती है कि वह कम से कम उन ऐतिहासिक पहल कदमियों के बारे में भी कुछ कहें जिसमें महिलाओं के हक में कुछ किया गया । कबीर या नानक पर बात करते हुए नई पाठ्यपुस्तकों को यह बतलाना चाहिए था कि उन्होंने समाज में नारी को दिए गए निम्न स्थान को नहीं स्वीकार किया । बल्कि स्त्रियों को अनेक सामाजिक कार्यों के लिए प्रोत्साहित किया। जब कबीर और नानक सार्वजनिक संवाद करते तो उस समूह में स्त्रियों को भी सम्मिलित किया जाता था। अलग-अलग सन्तों के खण्डों में छितरी हुई पाठ्यसामग्री यह बताने की क्षमता खो देती है कि दरअसल ये चारों संत मुख्यत: अब्राह्मण होकर एक ऐसा आन्दोलन पैदा कर पाए जिसे 'भक्ति-आन्दोलन' के नाम से जाना जाता है। इस आन्दोलन ने ब्राह्मणवादी धार्मिक आडम्बरों पर प्रहार किया। उन्होंने एक ऐसे सरल, व्यवहारवादी सीधे-सीधे शब्दों तथा भाषा में ज्ञान रचा जिसके कारण उस समय के शिल्पी एवं किसान इसकी तरफ आकर्षित हुए । ध्यातव्य है कि उस समय के आडम्बरी ब्राह्मणवादी धर्मज्ञान से यह तबका वंचित था । इस लिहाज से ज्ञान को समाज के निचले तबके तक पहुंचाने का श्रेय भी इन संतों को जाता है । भक्ति आन्दोलन को मिले व्यापक समर्थन एवम् मान्यता के कारण इन्हें यह भ्रम तोड़ने का भी श्रेय जाता है कि ऐतिहासिक रूप से ज्ञान की जन्मस्थली सवर्णों के पास रही है ।

समाज के दलित-वंचितों के प्रति नई पाठ्यपुस्तकों की यह उदासीनता कोई अचानक से हुई परिघटना नहीं है। बल्कि इसकी जड़ें पाठ्यचर्या एवं उसके आधार पर विकसित किए जाने वाले पाठ्यक्रमों में देखने को मिलती हैं । स्कूल के लिए जब एन.सी.ई.आर. टी. द्वारा निर्मित नई पाठ्यचर्या आयी (विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा, सन् 2000) तभी से शिक्षाविदों ने यह रेखांकित करना तथा दर्ज करना शुरू किया था कि नई पाठ्यचर्या, पहले से ही हाशिए पर ढकेले गए दलितों की उपस्थिति को लगभग शून्य करने का प्रयास है । इसी नई पाठ्यचर्या

के आधार पर जब स्कूल के लिए नया पाठ्यक्रम विकसित किया गया तो यह बात अपेक्षाकृत मूर्त रूप में पाई गई ।

कक्षा छ: से लेकर कक्षा बारह तक के हिन्दी पाठ्यक्रम की विषयवस्तु वैसे तो स्वभावत: अलग-अलग है। पर इन सभी में जो एक चीज समान है वह है ... 'जीवन के विविध संदर्भ' 'केन्द्रिक घटक और नागरिकों के मूल कर्तव्य', तथा 'मूल्य पर विषय', शीर्षक और इसके अन्तर्गत आने वाली विषयवस्तु चाहे हिन्दी भाषा, 'आधार' के रूप में हो, ऐच्छिक विषय के रूप में हो, मातृभाषा के रूप में हो अथवा द्वितीय विषय के रूप में हो । इन शीर्षकों के अन्तर्गत अन्य बातों के अलावा स्त्री-पुरूष समानता, पर्यावरण का संरक्षण, छोटे परिवार का मानक, जनसंख्या नियंत्रण, सर्व धर्म समभाव, धर्मनिरपेक्षता का उल्लेख किया गया है पर जो चीज सिरे से नदारद है वह है जातिविहीन समाज अथवा जाति आधारित विषमतामूलक समाज की जगह समतामूलक समाज की बात । कक्षा छ: से लेकर बारह तक के हिन्दी के पूरे पाठ्यक्रम में इसकी चर्चा अपवाद स्वरूप भी कहीं नहीं देखी जा सकती । कहने की आवश्यकता नहीं है कि इसके पीछे सवर्णवादी हिन्दू दर्शन को पोषित करने अथवा कम से कम उसे चोट न पहुंचाने का सोच काम कर रहा है । पाठ्यक्रम में जगह-जगह भारतीय परम्पराओं तथा संस्कृति पर गर्व करने की बात की गई है । विश्व सभ्यता एवं संस्कृति द्वारा दिए गए योगदानों की भी चर्चा बार-बार उभर कर आती है । पर कहीं भी उस परंपरा अथवा संस्कृति की चर्चा नहीं की गई है जिस पर हमें गर्व करने की जगह ग्लानि का भी अहसास होना चाहिए । जाति आधारित विषमता, छुआछूत, भेदभाव, दहेज, महिला संबंधी रवैया आदि इसके उदाहरण हो सकते हैं। इससे एक बात तो साफ होती है कि हिन्दी का पाठ्यक्रम भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को आलोचनात्मक ढंग से देखने की कोई गुंजाइश नहीं बनाता बल्कि इसकी जगह वह एकांगी दृष्टिकोण का शिकार है। जो पाठ्यक्रम असमानता, विषमता के संदर्भ में जाति की पहचान ही नहीं करता, उसी पाठ्यक्रम को आधार बनाकर लिखी जाने वाली पाठ्यपुस्तकों के बारे में कुछ सहज ही आशंकाएँ खड़ी होती हैं । पहला यह कि हिन्दी की पाठ्यपुस्तकों में दलित पात्रों, नायकों का प्रतिनिधित्व न के बराबर होगा और स्वतंत्रता संग्राम सहित भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के निर्माण एवं वृद्धि में दलितों के योगदानों को सैद्धांतिक रूप से स्वीकृत करने वाले वाक्य या वाक्यांश शायद ही कहीं देखने को मिलेंगे । इस पाठ्यक्रम को आधार बनाकर लिखी गई हिन्दी की नई पाठ्यपुस्तकें इसी आशंका की पुष्टि करती हैं।

शैक्षिक पाठ्यक्रम तय करने का हक, एक ऐसा क्षेत्र रहा है जिसे सरकार किसी भी सूरत में अपने हाथ से निकलने नहीं देना चाहती। जाहिर है कि स्कूलों में दिया जाने वाला ज्ञान सरकार के लिए वह ताकतवर जरिया है जिसके सहारे वह समाज और उसके विकास के संबंध में अपना दर्शन घुटट्ी के तौर पर पिलाने का काम लेती आई है। यही वजह है कि आजादी के बाद जब हमारे देश ने औद्योगिकीकरण को अपनाया तो पाठ्यपुस्तकों ने जमकर इसका इकतरफा गुणगान करना शुरू कर दिया । वे यह बताने में जुट गई कि औद्योगिकीकरण के फायदे-ही-फायदे हैं। उन्हें इसका कोई काला पक्ष कभी दिखाई ही नहीं देता है । वह यह नहीं बतलातीं कि किस प्रकार औद्योगिकीकरण अपनी भूमि से विस्थापित आदिवासी किसानों को भूमिहीन मजदूर या सर्वहारा में बदल देता है। वे इस सवाल पर मौन हो जाती हैं कि किस प्रकार वर्तमान ढांचे के औद्योगिकीकरण ने देश के स्तर पर भी और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शक्ति-संतुलन के विषम विभाजन को और भी तीखा किया है। जीवन के सभी धरातलों पर इसने दबे-कुचलों के खिलाफ अगड़ों को ही सम्पन्न किया है ।

पर आधुनिक शिक्षा औद्योगिकीकरण, बाजार तथा नवमौद्रिक व्यवस्था के इन पक्षों से आज भी अपना संबंध तोड़े हुए है। आज भी सहायक पुस्तकों तथा कुन्जियों में औद्योगिकीकरण का महाकल्याणकारी, सर्वमंगलमय रूप ही परोसे जाने की प्रक्रिया बदस्तूर जारी है । छात्र आज भी सूक्ति की तरह इसे रटते हैं । परीक्षा की कॉपियों में उधृत करते हैं और अधिकतर शिक्षक इस पर खुश होकर अंक देने में थोड़ी उदारता बरत लेते हैं। संभवत: यह भी वजह है कि जहां कहीं भी बांध-निर्माण, कल कारखानों व उद्योगों की स्थापना, प्राकृतिक सम्पदा का दोहन जैसे शब्द आते हैं वहीं हमारे आम पढ़े-लिखे दिमागों के शब्दकोष में इसके लिए एक ही पर्याय निकलता है - विकास, विकास और विकास ।

पाठ्यपुस्तकें हाशिए पर जी रहे तबकों को किस तरह से और अधिक हाशिए पर धकेल रही हैं इस अफसाने की एक और परत तब खुलती है जब इसकी तुलना हम पुरानी पाठ्यपुस्तकों से करते हैं ।'दिल्ली पाठ्यपुस्तक ब्यूरो' एवं 'राजस्थान पाठ्यपुस्तक मण्डल' द्वारा निर्मित और सरकारी स्कूलों में पढ़ाई जाने वाली हिन्दी कक्षा सात की पाठ्यपुस्तक के संदर्भ में एक पाठ का नाम है - 'अन्तरिक्ष केन्द्र : श्री हरिकोटा' । पाठ के लेखक हैं गुणाकर मुले, जिनका परिचय पाठ के आरंभ में करवाते हुए मोटे हरफों में लिखा है कि ये वैज्ञानिक कथाओं और वैज्ञानिक विवरणों के लेखक के रूप में प्रसिद्ध हैं । यह पाठ शुरूआत में ही परिचय देता हुआ कहता है, ''श्री हरिकोटा, आन्ध्र प्रदेश के समुद्रतट के समीप एक छोटा-सा द्वीप है । इस द्वीप के मूल निवासी यनादि के नाम से जाने जाते हैं। बहुतों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि ये यनादि आदिवासी

आज भी खेती करना नहीं जानते । ये लोग अभी हाल तक कंद-मूल का संग्रह और शिकार करके अपना जीवन-निर्वाह करते हैं । अभी कुछ साल पहले तक ये यनादि आदिवासी अलग-अलग रहकर पाषाण युग का जीवन जी रहे थे। लेकिन अब श्री हरिकोटा द्वीप के इन आदिवासियों को शक्तिशाली रॉकेटों के धमाके सुनने और धरातल से उठकर अन्तरिक्ष के आरोहण करने वाले रॉकेटों के रोमांचकारी नजारे देखने को मिलते हैं । बाह्य सभ्यता से प्राय: अनभिज्ञ ये यनादि आदिवासी अब राकेट, डीजल-इंजन आदि शब्दों का अर्थ समझने लगे हैं। ... इतने थोड़े समय में भारत के शायद ही किसी अन्य स्थल पर इतना युगांतकारी परिवर्तन हुआ हो। इस प्रकार श्री हरिकोटा अब भारत के अंतरिक्ष अनुसंधान के प्रयासों का आशाद्वीप बन गया है।'' (दिल्ली पाठ्यपुस्तक ब्यूरो 1996; एवं राजस्थान पाठ्यपुस्तक मण्डल 1999; 64-68, 126-132)पाषाण युग का जीवन जी रहे यहां के आदिवासियों का क्या हुआ, पाषाण युग के जीवन से इनका संक्रमण किस काल के जीवन में हुआ इत्यादि बातों पर पाठ मौन है । इस जानकारी के अलावा कि ''भारतीय अन्तरिक्ष विभाग ने करीब एक करोड़ रुपयों का भुगतान करके द्वीप की जमीन खरीद ली । आदिवासियों के प्रत्येक परिवार को सुल्लुरपेट के पास बसाने की व्यवस्था की गई।'' अलबत्ता पाठ से यह ध्वनि जरूर मिलती है कि अचानक पाषाण युगीन जीवन के प्रतीकों, बिम्बों से संक्रमित होकर वे रॉकेट तथा डीजल-इंजन शब्दों को समझने लगे हैं । इतने भर से पाठ मान लेता है कि इनका कल्याण हो गया और वे पाषाण युग से निकलकर अन्तरिक्ष युग के नागरिक बन गए हैं। संभवत: पाठ के नजरिए में डीजल इंजन और रॉकेट नाम से इन चीजों की पहचान भर ही इन्हें समझ लेना है और इसी विला पर पाषाण युग से निकलकर अन्तरिक्ष युग में आ जाना है । उनके रहने की मूल जगह छिन गई तो क्या है, उन्हें दूसरी जगह बसाया तो क्या, राकेट छूटने के धमाके सुनने का महान अवसर तो मिल गया। इतना ही क्या कम है कि उनकी पुराने रहने की जगह आज अन्तरिक्ष अनुसंधान के प्रयासों का आशाद्वीप बन गया है ।

संभव है कि नर्मदा पर बनने वाले बांध की ऐसी ही कहानी कल लिखी जाएगी, स्कूल की पाठ्यपुस्तकों में इसे शामिल किया जाएगा व पढ़ाया जाएगा । न केवल शेष समाज बल्कि नर्मदा के विस्थापित समाज के सभी नहीं तो कुछ बच्चे जरूर ही इसे पढ़ रहे होंगे । इस पर पूछे गये प्रश्नों का जवाब कुछ इस तरह दे रहे होंगे - नर्मदा पर बंधा बांध - एक महान बांध, कायाकल्प करने वाली संजीवनी । इतना भव्य, विशाल और मंहगे बजट वाला होकर अन्य जगहों पर इसी तरह के बांधों का प्रेरणा स्रोत बन गया है । क्योंकि जीवन के अनेक धरातलों पर विस्थापन की मार झेल रहे छात्र फेल होने की कीमत पर परीक्षा पत्रों में इसकी आलोचना करने का साहस शाायद ही जुटा पाएंगे । वैसे भी शिक्षा का जो वर्तमान चरित्र है उसमें राज्य के कार्य को समीक्षात्मक दृष्टि से देखने की संभावना ही कहां है । इस प्रकार नर्मदा के विस्थापित छात्र पाठ में कुछ और निजी जिन्दगी में कुछ और के विरोधाभास से घिरे रहने को अभिशप्त होंगे । आज क्षीण ही सही पर इस तरह के विकास के अमानवीय चेहरे को उघाडने वाले कई मार्मिक अध्ययन दुनिया भर में मौजूद हैं । पर आधुनिक शिक्षा को इसे अपनाने से परहेज, अपच तक बना हुआ है ।

प्रकृति के साथ अस्थाई रिश्ते के दर्शन पर टिका हुआ प्राकृतिक संपदा का दोहन किस-किस तरह की सामाजिक विसंगतियों को अपने साथ लाता है ? यह दलित, वंचित समुदाय की महिलाओं और बच्चों सहित इस पूरे समुदाय के जीवन के किन किन पक्षों पर क्या-क्या असर डालता है। इन सबका विस्तारपूर्वक विश्लेषण अमृता पटवर्धन ने अपने शोध (2000) में विभिन्न अध्ययनों एवं रपटों के हवाले से किया है । साथ ही साथ यह भी दिखलाया है कि हमारी पाठ्यपुस्तकें क्या जिक्र करती हैं । इस पुस्तक के एक पाठ में कहा गया है कि भूगोल की बहुमुखी परियोजनाओं पर बंधे बांध स्वाभाविक रूप से बाढ़ों को रोकने में सहायक होते हैं । इन पर वनरोपण किया जाता है ताकि जल और मिट्‌टी का संरक्षण हो सके । इस तरह की परियोजनाएं कम मूल्य पर बिजली मिलने की स्थायी और अनंत स्रोत बन जाती हैं। मानव निर्मित इन झीलों में मछलियां भी पाली जाती हैं इसलिए इन्हें भारत के नवीन मंदिर कहते हैं । इस प्रकार पाठ यहां ऐसी योजनाओं के बारे में बताते हुए इसके सिर्फ लाभ ही लाभ गिनवा रहे होते हैं जबकि अध्ययन यह बतलाते हैं कि कई उदाहरणों में बांध, बाढ़ को रोकने की जगह उसका कारण बन जाता है । बांध के कारण ताजे जल की मछलियों का पांचवां हिस्सा खतरे अथवा लुप्त होने के संकट से गुजर रहा है । जलग्रहण क्षेत्रों में वृक्षारोपण के नहीं होने अथवा असफल होने के कारण पैदा हुए भारी क्षारीकरण ने कई बांधों के जीवन को कम किया है । अध्ययन यहां तक बतलाते हैं कि जल विद्युत न तो स्थायी है और न ही सस्ता साधन। जबकि पाठ्यपुस्तक इसे स्थायी, अनंत और कम लागत पर मिलने वाला बतलाती है । वे इन बांधों के कारण पड़ने वाले पर्यावारणिक, सामाजिक तथा वित्तीय कुप्रभावों की चर्चा एक पंक्ति में भी नहीं करतीं। पाठ आगे इस तरह की परियोजना की तारीफ कलात्मक स्तर पर भी उतर कर करने लगते हैं। भाखड़ा बांध की प्रशंसा करते हुए वह कहता है कि इसमें जितनी सीमेंट और कंक्रीट का प्रयोग किया गया है वह दिल्ली से लंदन तक एक पक्की सड़क बनाने के लिए पर्याप्त होगी । इस परियोजना में जितनी ईंट लगाई गई हैं यदि उन्हें एक पंक्ति में रखा जाए तो वे हमारी पृथ्वी को चंद्रमा से जोड़ने के लिए पर्याप्त होंगी।

पाठ्यपुस्तकें इस प्रकार बड़े बांधों का स्तुति गान करते वक्त यह बात छुपा ले जाती हैं कि भारत में बड़े बांधों से 5.6 करोड़ लोग, जिनमें 62 प्रतिशत अनुसूचित जातियों और जनजातियों के गरीब लोग थे, विस्थापित हुए हैं। साथ ही साथ 50 लाख हेक्टेयर जंगल बर्बाद हुए हैं। इन योजनाओं पर अब तक 1,56,000 करोड़ रुपये खर्च हो चुके हैं। और इनसे खेती की जरूरतों की दस प्रतिशत आपूर्ति हुई है । विश्व बांध आयोग भी मानता है कि बड़े बांधों की सिंचाई परियोजनाएं आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से लाभकर नहीं हैं क्योंकि पानी से बिजली का उत्पादन अन्य तरीकों से उत्पादन से मंहगा ही पड़ता है । बांध के कारण अपने पारम्परिक जीविकोपार्जन के साधन जल, जंगल, जमीन के छिन जाने अपनी संस्कृति, ज्ञान परंपरा से उखड़ जाने को अक्सर इस बात से ढ़ंक दिया जाता है कि उन्हें दूसरी जगह बसाया गया, इसकी क्षतिपूर्ति की रकम दी गई । जबकि अध्ययनों द्वारा यह तथ्य उभर कर आया है कि विस्थापन के बदले दी जाने वाली क्षतिपूर्ति की मामूली रकम उनके जीवकोपार्जन के छीने गए आधार जल, जंगल, जमीन की कभी भरपाई नहीं कर पाती। खासकर आदिवासियों के संदर्भ में यह बात बहुत दूर तक लागू होती है ।

वजह यह है कि आदिवासी समाज के पास रुपये पैसे को उत्पादक काम में लगाकर उससे धन कमाने के कौशल और ज्ञान का कोई पूर्व अनुभव नहीं होता है । गृहंत्रालय की एक रिपोर्ट को अमृता इसके समर्थन में उद्धृत करती हैं । रपट कहती है कि विस्थापन की क्षतिपूर्ति के रूप में जिन आदिवासी क्षेत्रों में सिर्फ धन दिया गया वहां इस धन को उपभोक्ता वस्तुओं में खर्च करने की प्रवृत्ति पाई गई है । पर फिर भी सरकार क्षतिपूर्ति के रूप में नगद धन दिए जाने का पक्ष लेती रही । कई अन्य अध्ययनों के निष्कर्षों के आधार पर यह तथ्य भी उभरता है कि इस तरह के बांध निर्माण ने संसाधनों का प्रवाह समाज के कमजोर तबके से मजबूत तबके की ओर करने में अपनी भूमिका निभाई है । बड़े बांधों ने मौजूदा सामाजिक विषमता को कम करने की जगह आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक रूप से अगड़ों को और समृद्ध करने में ही अपना योगदान दिया है। विस्थापित आदिवासियों को कहीं और बसाए जाने के क्रम में जो सांस्कृतिक आघात लगता है, नई जगह की संस्कृति, अर्थव्यवस्था से जो अचानक तालमेल बिठाने का संकट आन पड़ता है उसमें ये दक्ष नहीं होते, फलत: यह मनौवैज्ञानिक झटका भी इन्हें सहना होता है । इसके साथ यह भी देखा गया है कि जहां इन्हें बसाया जाता है वहां के लोग कोई जरूरी नहीं कि इन विस्थापितों के प्रति स्वागत की प्रवृत्ति रखते हों बल्कि परिस्थितियों के इसके उलट होने की ही संभावना अधिक होती है ।

शोधकर्ती विश्व मानसिक स्वास्थ्य की रपट (1995) के हवाले से कहती हैं कि अफ्रीका, दक्षिण अमरीका और एशिया के संदर्भ में सच्चाई है कि विस्थापन ने कुल मिला-जुलाकर सामाजिक एवं मनौवैज्ञानिक रुग्णता पैदा की है । खासकर महिलायें एवं बच्चे इसके कारण कई तरह की हिंसा, जलालत और मानसिक अवसाद के शिकार हुए हैं। विस्थापन ने जलावन, खाना तथा पीने के पानी को जुटाने में लगी रहने वाली महिलाओं की मुश्किलों को और भी बढ़ाया है । यह भी पाया गया है कि विस्थापित समुदाय में शराब की खपत का इजाफा हुआ है जिसने एक स्तर पर महिलाओं के खिलाफ होने वाली हिंसा को बढ़ाया है। अध्ययन यह भी दिखलाते हैं कि पितृसत्तात्मक समाज में रहते हुए भी आदिवासी समुदाय में महिलाओं का दर्जा अन्य हिन्दु समाज के बनिस्पत ऊँचा होता है। पर विस्थापन ने आदिवासी समुदाय में महिलाओं की इस हैसियत पर भी विपरीत असर ड़ाला है । बढ़ रहे बच्चों के लिहाज से भी विस्थापन के नकारात्मक प्रभाव पाए जाते हैं । ऐसे बच्चों की सामाजिक-सांस्कृतिक जड़ें अपनी मूल जमीन से उखड़ जाती हैं । इसका प्रभाव यह होता है कि इनकी सामुदायिक एवं जातीय पहचान धुंधली हो जाती है और ऐसे बच्चे एक तरह की आत्महीनता एवं जड़हीनता के शिकार होने लगते हैं। विस्थापन के शिकार बच्चे घनघोर अनिश्चितता, चिन्ता, संघर्षो तथा विभिन्न तरह के मनोभौतिक दवाब के साथ-साथ पोषक तत्वों के अभाव में बड़े हो रहे होते हैं। विस्थापित खाने-पीने एवं रहने की पारंपरिक आदतों को अचानक से बदल लिए जाने के दबाव में रहते हैं । फलत: ऐसी माँ अपने बच्चों को पर्याप्त मात्रा में स्तनपान नहीं करवा पातीं जिसका शिकार बच्चे होते हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारी पाठ्यपुस्तकें 'सरकारों' द्वारा अपनाए गए विकास के मॉडल, नीति एवं दर्शन की एकतरफा जानकारी देती हैं । उसको समीक्षात्मक रूप से देखने-परखने की कोई गुंजाइश नहीं छोड़तीं। आधुनिकता, प्रौद्योगिकी, औद्योगिकरण, प्राकृतिक संसाधनों की दोहन प्रणाली, विभिन्न समुदायों के आर्थिक-सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन पर क्या प्रभाव डालती हैं इस पर पाठ्यपुस्तकें चुप्पी साध लेती हैं। असल में आज तक हमारी पाठ्यपुस्तकें बहुसंख्यकों के हितों पर थोड़े से लोगों के हितों को तरजीह देने का दार्शनिक आधार बनाने में मदद करती रही हैं । ऐसी स्थिति में हम अपनी पाठ्यपुस्तकों से यह आशा नहीं बांध सकते हैं कि वे समाज के दलित, वंचित समुदायों के हितों को भी ध्यान में रखते हुए आधुनिक प्रौद्योगिकी एवं औद्योगिकीकरण की सामाजिक भूमिका पर विचार करें । इसके लिए आवश्यक है कि पाठ्यक्रम सहित तमाम शैक्षिक प्रक्रिया को समाज के दबंग तबके की गिरफ्त से आजाद करने की प्रक्रिया

चलायी जाये । जब तक पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तकों, अध्ययन-अध्यापन के तौर-तरीकों तथा इसके प्रबंधन इत्यादि पक्षों पर निर्णय लेने, उसे जमीन पर उतारने में समाज के दलित-वंचितों को व्यापक तौर पर शामिल नहीं किया जायेगा, तब तक हमारी पाठ्यपुस्तकें इसी तरह के पूर्वाग्रहों से ग्रस्त रहेंगी ।

आधुनिकता तथा आधुनिकीकरण के प्रतीकों के प्रति उत्साह में आकर हमारी पाठ्यपुस्तकें इनका मिथकीकरण तक कर डालती हैं । इस अति उत्साह की स्थिति में वह बच्चों के सामने यह भेद करना भूल जाती हैं कि जहां मिथकों में चमत्कार, परा-भौतिक ताकत, सामर्थ्य, अतार्किकता, अवास्तविक काल्पनिकता का पुट होता है वहीं बड़े-बड़े उद्यमों (बड़े बांध,नहर, ओवरब्रिज) का आधार वैज्ञानिक ज्ञान तथा उसके बल पर विकसित की गई तकनीक होती है । राजस्थान राज्य पाठ्यपुस्तक मण्डल, जयपुर द्वारा कक्षा पांच के लिए तैयार की गई हिन्दी की पाठ्यपुस्तक, (संस्करण 2001) इन्दिरा गांधी नहर परियोजना को कुछ इसी तरह पेश करती है। पाठ इस तरह से शुरू होता है,' ''सब दिन होत न एक समान । .... पुस्तक में पढ़ा था - सुदामा जब द्वारिका से लौटकर आए तो सुदामापुरी का वैभव देखकर चकरा गये । वे इस नगरी में चारों ओर चक्कर लगाते रहे । उन्हें अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ कि सब कुछ इतनी जल्दी बदल सकता है । बार-बार यही भ्रम होता था कि कहीं वे लौटकर द्वारिका में ही तो नहीं आ गए । ठीक वैसी ही हालत मेरी हो गई जब मैं पन्द्रह वर्ष बाद गंगानगर जिले की एक ढाणी में पहुंचा । मुझे विश्वास ही नहीं हो रहा था कि मैं पन्द्रह वर्ष पहले के गंगानगर जिले में आया हूं । कहां तो यहां पानी घी की तरह बरता जाता था, ऊँटों पर लादकर दूर-दूर से लाया जाता था, कहां अब चारों ओर पानी ही पानी दिखाई देता है। यह सब इन्दिरा गांधी (राजस्थान) नहर का चमत्कार था ।''

उपरोक्त अंश में इंदिरा गांधी नहर परियोजना का साम्य 'सुदामा-कृष्ण' की मिथकीय कहानी से करना एक तरह से शिक्षण शास्त्रीय भ्रान्ति का ही परिचायक है । सुदामा-कृष्ण की कहानी में सुदामा की आर्थिक एवं भौतिक कायापलट के पीछे और कुछ नहीं है बल्कि कृष्ण की अजागतिक ईश्वरीय शक्ति का कमाल है। इसमें सुदामा की स्थिति किसी प्रक्रिया से गुजरकर नहीं बदली। इसमें कोई तार्किकता, प्रत्यक्षानुभूति लायक किसी तकनीकी के आधार नहीं हैं बल्कि वह सचमुच इन्द्रिय अनुभवातीत किन्हीं चमत्कारिक शक्तियों द्वारा अचानक घटा दी गई घटना है जिसके घटने का कोई प्रत्यक्षदर्शी नहीं । ऐसे में जब राजस्थान में इंदिरा गांधी नहर परियोजना से हुई कायापलट का मिथकीय कहानी से मिलान किया जाता है तब यह कई शिक्षण-शास्त्रीय आशंकाओं को जन्म देता है । आशंका यह कि छात्र विज्ञान, तकनीक एवं मानवीय सामर्थ्य से खड़े किए जाने वाले उद्यमों की विवेकसम्मत समझ का विकास नहीं कर पाएगा । विज्ञान सम्मत फायदों को अगर वह चमत्कार या वरदान की तरह देखेंगे तो उसके दुष्परिणामों को भी दैवीय प्रकोप की तरह समझेंगे । इस समूची प्रक्रिया में विज्ञान सम्मत समझ को विकसित करने की कोई शिक्षणशास्त्रीय संभावना नहीं है। पाठ की संरचना लेख केन्द्रित है । इस पाठ में इस बात की गुंजाइश नहीं है कि विद्यार्थी इस लेखक द्वारा दिए गए संदेश को निगलने के बजाए अपनी तरफ से कुछ अभिव्यक्त कर सकें । लेखक अगर पन्द्रह वर्ष बाद वहां जाता है और इस बीच नहर द्वारा आए परिवर्तन को देखकर दंग रहता है तो लेखक की यह अनुभूति उसके लिए स्वाभाविक हो सकती है और न्यायसंगत भी। पर अपनी इस मानसिक स्थिति का बयान वह साहित्यिक विधा में करता तो बात कुछ और होती पर जब लेखक इसका इस्तेमाल स्कूली शिक्षणशास्त्र के लिए करता है तो उसे इस बात से सावधान रहना चाहिए था कि अभिव्यक्ति की यह संरचना विद्यार्थियों में विकासात्मक कार्यों तथा परियोजनाओं के पीछे की प्रक्रियाओं की समझ को विकसित करने की बजाय उसे बाधित करेगी।

हमारी पाठ्यपुस्तकें 'सरकारों' द्वारा अपनाए गए विकास के मॉडल, नीति एवं दर्शन की एकतरफा जानकारी देती हैं । उसको समीक्षात्मक रूप से देखने-परखने की कोई गुंजाइश नहीं छोड़तीं। आधुनिकता, प्रौद्योगिकी, औद्योगिकरण, प्राकृतिक संसाधनों की दोहन प्रणाली, विभिन्न समुदायों के आर्थिक-सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन पर क्या प्रभाव डालती हैं इस पर पाठ्यपुस्तकें चुप्पी साध लेती हैं । असल में आज तक हमारी पाठ्यपुस्तकें बहुसंख्यकों के हितों पर थोड़े से लोगों के हितों को तरजीह देने का दार्शनिक आधार बनाने में मदद करती रही हैं । ऐसी स्थिति में हम अपनी पाठ्यपुस्तकों से यह आशा नहीं बांध सकते हैं कि वे समाज के दलित, वंचित समुदायों के हितों को भी ध्यान में रखते हुए आधुनिक प्रौद्योगिकी एवं औद्योगिकीकरण की सामाजिक भूमिका पर विचार करें ।

आगे चलकर यह पाठ बड़े-बड़े बांधों परियोजनाओं की प्रशंसा से इस नहर परियोजना को जोड़ देता है मसलन भाखडा नांगल, हीराकुंड, दामोदर घाटी, तुंगभद्रा , चंबल घाटी। यहां पर पाठ एक और तरह की भारी शिक्षणशास्त्रीय भूल करता है । वह यह कि बड़े बांध और उसके फायदे को वैज्ञानिक 'कार्य-कारण'

सिद्धांत की तरह पेश करता है यानी बड़ा बांध है जहां फायदा ही फायदा है वहां । इसके द्वारा होने वाले एक भी नुकसान या दुष्प्रभाव की वह अपवाद स्वरूप भी चर्चा नहीं करता। इस क्रम में वह समाज, सामाजिक स्थितियों तथा उनके समाजशास्त्र को दरकिनार करके चलता है। यानी वह नहीं बताता कि इन बड़ी योजनाओं तथा परियोजनाओं का लाभ विषमता आधारित समाज के रहते सभी को नहीं मिलता या सभी को समान लाभ का अवसर नहीं मिलता । पाठ बांध और विकास को पर्यायवाची की तरह ही बरतता है। इस तरह वह विद्यार्थियों के आगे ऐसी विकासात्मक योजना अथवा परियाजनाओं से होने वाले विकास की एकरेखीय तस्वीर पेश करता है जो कि सत्य से कोसों दूर है ।

आधुनिकीकरण के महिमा मनोविज्ञान का शिकार यह पाठ आधुनिककीकरण के हर प्रतीक अथवा बदलाव को मुग्धावस्था की स्थिति में रखकर देखता है । पाठ बयान करता है, ''हरिसिंह के घर नाश्ते में डबल रोटी, मक्खन, फल, मिठाई, बिस्कुट देखे तो लगा कि शहर की सभी सुविधाएं वहां भी आ गईं । और तो और टेलीविजन जैसी सुविधायें भी अब वहां उपलब्ध हैं। यह समझते हुए मुझे देर न लगी कि यह चमत्कार इंदिरा गांधी नहर के कारण हुआ है । '' (वही;37) सवाल यह है कि पारंपरिक खाद्य पदार्थों की जगह 'डबल रोटी' और बिस्कुट के आने की घटना को प्रगतिशीलता से जोड़कर कैसे देखा जा सकता है । निश्चित रूप से इसे आधुनिकता का प्रमाद ही कहा जा सकता है। इस प्रमाद में पड़कर पाठ, भू-जैव विविधता के सिद्धांत के संदर्भ में खाद्य पदार्थों के औचित्य को समझने-समझाने की जगह 'डबल रोटी' एवं बिस्कुट की घुसपैठ को प्रगति के सूचक के तौर पर अभिव्यंजित करने लगता है । आधुनिकीकरण के जिन पक्षों की गहरी आलोचना की जाती रही है उनमें से एक है विवधिता की जगह सर्वसमानीकरण एवं एकरूपीकरण करने की प्रक्रिया । खाद्य पदार्थों के संबंध में भी आधुनिकीकरण का एक हद तक यह असर रहा है। 'बिस्कुट' एवं 'डबल रोटी' उसी की एक प्रतीकात्मक अभिव्यंजना है । पर पाठ यहां आधुनिकीकरण के इस पक्ष को लेकर लम्बे समय से की जा रही इस आलोचना से बेखबरी दिखलाता है । अपनी इसी बेखबरी की वजह से पाठ, भौगोलिक संदर्भों में खाने-पीने की चीजों के पीछे की वैज्ञानिकता को नजरअंदाज करता है और 'डबलरोटी' एवं 'बिस्कुट' के आने के प्रति एक तरह का उत्साहजनक स्वागत भाव दिखलाता है । कुछ समय के लिए अगर हम भू-जैविक सन्दर्भ को एक तरफ रखकर भी सोचें तो 'डबलरोटी' और बिस्कुट को स्वास्थ्य की दृष्टि से कोई ऐसी चीज नहीं माना जा सकता जिसका कि पाठ इस जोर से स्वागत करे ।

आधुनिकता का यह महिमामण्डन यहीं पर खत्म नहीं हो जाता बल्कि यह और आगे जाकर यह बताने की कोशिश करता है कि किस प्रकार इस परियोजना ने वहां के लोगों में उद्यमशीलता भर दी है । पाठ कहता है, ''मैं देख रहा था कि उस ढाणी में भी जो अब कस्बे में बदल गई है - गलाई के, ढलाई के, झलाई के मरम्मत के, प्लास्टिक के कई उद्योग खुल गए हैं । वहां के लोगों का जीवन ही बदल गया है । **जो लोग हर समय घर में पड़े रहते थे, अब सुबह होते ही काम-धंधे के लिए घर से निकल पड़ते हैं।''** (वही, 36, जोर लेखक के द्वारा) ।

इन पंक्तियों से यह ध्वनि निकलने की पूरी आशंका है कि पहले यहां के कुछ लोग अपनी निहायत व्यक्तिगत वजह से घर में पड़े रहते होंगे न कि अपनी किसी व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक संरचना की वजह से । उनके इस तरह घर में पड़े रहने के पीछे देश एवं राज्य की विकासात्मक नीति को प्रश्नांकित करने की आवश्यकता है न कि समस्या का व्यक्तिकरण करके इसकी समझ को बिगाडने की। पर पाठ आधुनिकता की विशेषताओं को बढ़-चढ़ कर बताने के क्रम में इस सामाजिक-आर्थिक एवं राजनैतिक सच्चाई को बड़ी साफगोई के साथ छिपा लेता है । विकास के जिस मॉडल पर चलते हुए केन्द्र से दूर-दराज के इलाकों में काम-धन्धे के अवसरों का विकास नहीं किया गया है उसी का नतीजा है 'हर समय घर में पड़ा रहना' । इसका कोई जैविक-गुणसूत्रीय आधार नहीं है । यही वजह है कि काम के अवसर पाने पर यही व्यक्ति कमेरू की भूमिका में दिखने लगते हैं । स्वयं पाठ की ही पंक्ति से इसकी पुष्टि हो रही है।

इसी किताब में एक अन्य जगह पर उपग्रहों के फायदों का बयान करते हुए कहा गया है कि, ''ये उपग्रह अंतरिक्ष में पृथ्वी के चारों ओर घूमते हैं। इससे मानव को मौसम की जानकारी तथा आने वाले तूफानों की सूचना पहले ही प्राप्त हो जाती है ।'' (वही, पृ.102) उड़ीसा के प्रलयकारी तूफान जैसी विपदा जिस राष्ट्र के बच्चों और शिक्षकों ने सुनी-देखी हो वो भला यह कैसे मानने के लिए तैयार होंगे कि किताब में दी जाने वाली जानकारी सही ही है। धातव्य है कि ऐसे समयों पर विभिन्न संचार माध्यमों द्वारा इस बात को रेखांकित किया गया था कि इतनी वैज्ञानिक प्रगति के बावजूद हम इस तरह की आकस्मिक प्राकृतिक आपदा को भुगतने के लिए अभिशप्त हैं। ऐसे में विद्यार्थी इस तरह पुस्तकीय ज्ञान और पुस्तक के बाहर से होने वाले ज्ञान के एक बड़े फाँक में फंसे रहने के लिए अभिशप्त हैं ।

ये पाठ्यपुस्तकें किस तरह से हाशिये पर जी रहे तबकों को और अधिक हाशिए पर धकेल रही हैं इस अफसाने की एक और

परत तब खुलती है जब हम इनकी तुलना पुरानी पाठ्यपुस्तकों से करते हैं । हिन्दी की पुरानी पाठ्यपुस्तकों (कक्षा 6-8) में वंचितों की छवि को लेकर किए गए एक अध्ययन के दौरान यह पाया गया कि 'श्री हरिकोटा' नामक पाठ (कक्षा - 7) में श्री हरिकोटा अन्तरिक्ष केन्द्र बनाने के क्रम में वहां से विस्थापित किए गए 'आदिवासयिों के परिवारों को सुल्लुरपेट के पास एक क्षेत्र में बसाने की व्यवस्था' की बात की गई है । और साथ ही सुल्लुरपेट के इस द्वीप तक पहुंचने के लिए सबसे पहले सड़कें और पुल बनाए जाने की बात भी की गई है । इस पाठ में विस्थापन के पश्चात पुनर्वास को क्षति पूर्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया था । इससे यह संदेश आता था कि उन आदिवासियों के साथ कुछ गलत जरूर हुआ जिसकी भरपाई पुनर्वास, पुल, सड़क आदि से करने की कोशिश की गई । यह एक अलग मुद्दा है कि कुछ अध्ययन बताते हैं कि जहाँ-जहाँ इन आदिवासियों को अपने पारंपरिक संसाधनों से वंचित कर अलग बसाया गया है वहां-वहां इनकी हालत बद से बदतर होती गई है ।

अब एन. सी. ई. आर. टी. की नई पुस्तक (कक्षा - 6) में 'नर्मदा की आत्मकथा' नामक पाठ देखकर यह उम्मीद बंधती है कि अब संभवत: इस पाठ में आदिवासियों की पीड़ा, उनके संघर्ष एवं नर्मदा आन्दोलन को शामिल कर उनके साथ न्याय किया गया होगा । न्याय और समानता की संवैधानिक प्रतिबद्धता से पनपी इस मासूम ख्वाहिश को पाठ के संक्षिप्त परिचय की प्रस्तुत पंक्तियां पढ़कर और बल मिला - ''यह माँ (नर्मदा) एक ओर तो अपने पुत्रों के कष्ट से व्याकुल हो उठती है तो दूसरी ओर इन्हीं पुत्रों के द्वारा किए जा रहे प्राकृतिक विनाश से दुखी होती है और मानव से अपेक्षा करती है कि वे समस्त प्रकृति के प्रति प्यार और निष्ठा की भावना रखें ।'' पर विडम्बना है कि ज्यों-ज्यों इस आत्मकथात्मक शैली में लिखे पाठ से हम रू-ब-रू होते हैं त्यों-त्यों पाते हैं कि मां रूपी नर्मदा अपने उन आदिवासी बच्चों का शुरूआत में नाम तो गिनवाती है जो उसके तट पर रहते हैं पर जैसे ही वह माँ कल्याण वश त्याग करने लगती है तो उसकी स्वीकारोक्ति इस प्रकार की जाती है - ''इन दिनों मुझ पर कई बाँध बाँधे जा रहे हैं। बाँध में बँधना भला किसे अच्छा लगेगा ....। किन्तु, जब अकाल-ग्रस्त भूखे-प्यासे लोगों को, पानी और चारे के लिए तड़पते पशुओं को और बंजर खेतों को देखती हूं, तो मेरा मन रो उठता है । आखिर मैं माँ हूँ, अपनी सन्तान को तड़पता कैसे देख सकती हूँ । इसलिए मैंने इन बांधों को स्वीकार कर लिया है ।'' इस त्यागमय लगने वाली पूर्ण स्वीकारोक्ति से माँ बांध से लाभान्वित होने वाले अपने हैसियत प्राप्त बच्चों के पक्ष में आदिवासी बच्चों की बलि सहर्ष दे देती है । वह उन बच्चों के प्रति ही दुधारू बनती है जो उसकी छाती चीरते हैं । यह पाठ विकास के नाम पर उजाड़े जाने वाले वंचितों की खोज-खबर लेने तक की नैतिक जिम्मेवारी से भी अपने को मुक्त कर लेता है । आत्म कथानक शैली में नर्मदा का मानविकीकरण करते हुए नर्मदा के मुँह से ही बांध को जनकल्याणकारी होने का प्रमाणपत्र दिलवाया गया है । यह शैली इस बात की शिक्षणशास्त्रीय संभावना को बढ़ा देती है कि इस पाठ से गुजरते हुए 11-12 वर्ष की आयु वाले अधिकतम विद्यार्थियों के दिलो-दिमाग में यह बात धंस जाये कि बांध सिर्फ कल्याणकारी होते हैं। बांध को सिर्फ कल्याणकारी रूप में पेश करता हुआ यह पाठ बांधों की वजह से दर-बदर की खाक छानने के लिए बेबस कर दिए गए नर्मदा के विस्थापित बच्चों के अनुभवों और अन्य जगहों पर भी विस्थापित हुए लोगों का क्रूर मजाक बनाता है । इन पाठ्यपुस्तकों ने वंचितों के अनुभवों को ऐतिहासिक तौर से तो नकारा ही, अभी हाल के चले लम्बे जन आन्दोलन को भी स्थान न देकर सत्ता के अनुभव को कथ्य में शामिल कर शिक्षा में चल रही राजनीति की परतें उधेड़ी हैं । ◆

सन्दर्भ

दिल्ली पाठ्यपुस्तक ब्यूरो (1996) : किशोर भारती, भाग-2, कक्षा-7, दिल्ली

पटवर्धन अमृत (2000) : ट्राइबल रिसेप्शन आर्फ एड्यूकेशन : ए केस ऑफ आदिवासी इन दि एस. एस. पी. रीजन ऑफ दि नर्मदा वैली, एम. फिल् डिजरटेशन (अप्रकाशित), शिक्षा विभाग , दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद (2000) : विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा ।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद (2001) : गाइड लाईन्स एण्ड सिलेबस फॉर सेकेण्ड्री स्टेज

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद (2002) : वासन्ती, भाग-1, कक्षा-11, दिल्ली

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद (2002) : साहित्य मंजरी, भाग - कक्षा-9, दिल्ली

राजस्थान पाठ्यपुस्तक मण्डल (2001) : हिन्दी, कक्षा 5, जयपुर ।

राजस्थान पाठ्यपुस्तक मण्डल (1997) : हिन्दी, कक्षा 7, दिल्ली ।